

वेदान्त दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० कीर्ति चन्द्रिका

Director, Institute of Education Research, Darbhanga, Bihar

संक्षिप्त सार

‘वेदान्त’ शब्द मूलतः उपनिषदों के लिए प्रयुक्त होता था। अलग-अलग संहिताओं तथा उनकी शाखाओं से सम्बद्ध अनेक उपनिषद् हमें प्राप्त हैं। जिनमें प्रमुख तथा प्राचीन हैं – ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, श्रुताश्वर तथा बृहदारण्यक। इन उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों में काफी कुछ समानता है किन्तु अनेक स्थानों पर विरोध भी प्रतीत होता है। कालान्तर में यह आवश्यकता अनुभव की गई कि विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों में समन्वय स्थापित कर सर्वसम्मत उपदेशों का संकलन किया जाये। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की जिसे वेदान्त सूत्र, शारीरकसूत्र, शारीरकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है। इसमें उपनिषदों के सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षेप में, सूत्र रूप में संकलित किया गया है। अत्यधिक संक्षेप होने के कारण सूत्रों में अपने आप में अस्पष्टता है और उन्हें बिना भाष्य या टीका के समझना सम्भव नहीं है। इसीलिए अनेक भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों द्वारा इनके अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया किन्तु इस स्पष्टीकरण में उनका अपना-अपना दृष्टिकोण था और इसीलिये उनमें पर्याप्त मतभेद है। प्रत्येक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उसका भाष्य ही ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण करता है।

शब्द संकेत : वेदान्त, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भाष्य और स्पष्टीकरण।

विषय प्रवेश :

वेदान्त का शाब्दिक अर्थ है— ‘वेदों का अन्त’ (अथवा सार)। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अंतिम भाग हैं, इसीलिए इनको वेदान्त कहते हैं। आरम्भ में उपनिषदों के लिए ‘वेदान्त’ शब्द का प्रयोग हुआ किन्तु बाद में उपनिषदों के सिद्धान्तों को आधार मानकर जिन विचारों का विकास हुआ, उनके लिए भी ‘वेदान्त’ शब्द का प्रयोग होने लगा। कर्मकाण्ड और उपासना का मुख्यतः वर्णन मंत्र और ब्राह्मणों में है तथा ज्ञान का विवेचन उपनिषदों में पाया जाता है। उपनिषदों के लिए ‘वेदान्त’ शब्द के प्रयोग के प्रायः तीन कारण दिये जाते हैं :-

(1) उपनिषद् ‘वेद’ के अन्त में आते हैं। ‘वेद’ के अन्दर प्रथमतः वैदिक संहिताएँ— ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम तथा अथर्व आती हैं और इनके उपरान्त ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आते हैं। इस साहित्य के अन्त में होने के कारण उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं।

(2) वैदिक अध्ययन की दृष्टि से भी उपनिषदों के अध्ययन की बारी अन्त में आती थी। सबसे पहले संहिताओं का अध्ययन होता था। तदुपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर यज्ञादि गृहस्थोचित कर्म करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ती थी। वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर आरण्यकों की आवश्यकता होती थी, वन में रहते हुए लोग जीवन तथा जगत् की पहली को सुलझाने का प्रयत्न करते थे। यही उपनिषद् के अध्ययन तथा मनन की अवस्था थी।

(3) उपनिषदों में वेदों का ‘अन्त’ अर्थात् वेदों के विचारों का परिपक्व रूप है। यह माना जाता था कि वेद-वेदांग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी बिना उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त किये हुए मनुष्य का ज्ञान पूर्ण नहीं होता था।

आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार ‘वेदान्त’ पद का तात्पर्य है—

वेदादि में विधिपूर्वक अध्ययन, मनन तथा उपासना आदि के अन्त में जो तत्त्व जाना जाये उस तत्त्व का विशेष रूप से निरूपण किया गया हो, उस शास्त्र को ‘वेदान्त’ कहा जाता है।

पूर्व अध्ययनों की समीक्षा:

पूर्व अध्ययनों की समीक्षा के क्रम में विभिन्न आचार्यों द्वारा लिखित पुस्तकों का अवलोकन किया गया है जिसमें—

दासगुप्ता (1922)⁴ शंकराचार्य के दर्शन में सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म दोनों का हम दर्शन, कर सकते हैं। निर्गुण ब्रह्म उनका निराकार ईश्वर है तथा सगुण ब्रह्म साकार ईश्वर है। जीव अज्ञान व्यष्टि की उपाधि से युक्त है। तत्त्वमसि तुम ही ब्रह्म हो। अहं ब्रह्मास्मि मैं ही ब्रह्म हूँ। ‘अयमात्मा ब्रह्म’। यह आत्मा ही ब्रह्म है। इन बृहदारण्यकोपनिषद् तथा छान्दोग्योपनिषद् वाक्यों के द्वारा इस जीवात्मा को निराकार ब्रह्म से अभिन्न स्थापित करने का प्रयत्न शंकराचार्य जी ने किया है। ब्रह्म को जगत् के उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय का निमित्त कारण बताए हैं। ब्रह्म सत्, नित्य, चौतन्यस्वरूप तथा आनंद स्वरूप है। ऐसा उन्होंने स्वीकार किया है।

श्रीनिवास (1988)⁵ आचार्य रामानुज के अनुसार यद्यपि जगत् और जीवात्मा दोनों कार्यतः ब्रह्म से भिन्न हैं फिर भी वे ब्रह्म से ही उद्भूत हैं और ब्रह्म से उसका उसी प्रकार का संबंध है जैसा कि किरणों का सूर्य से है, अतः ब्रह्म एक होने पर भी अनेक हैं।

कृष्णमूर्ति (2000)⁶ द्वैतवाद रामानुज के विशिष्ट द्वैतवाद से काफी मिलता-जुलता है। मध्व बिना संकोच द्वैत का प्रतिपादन करते हैं। अद्वैत वेदांत को मध्व “मायावादी दानव” कहते हैं। इनके अनुसार जगत्प्रवाह पाँच भेदों से समन्वित है— जीव और ईश्वर में, जीव और जीव में, जीव और जड़ में, ईश्वर और जड़ में तथा जड़ और जड़ में भेद स्वाभाविक है।

शर्मा (2005)⁷ शुद्धाद्वैतवल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित दर्शन है वे पुष्टिमार्ग के प्रवर्तक हैं। यह एक वैष्णव सम्प्रदाय है जो श्रीकृष्ण की पूजा अर्चना करता है।

गुप्ता (2007)⁸ द्वैताद्वैत दर्शन के प्रणेता निम्बार्क हैं जो वैष्णव दार्शनिक थे। उनके दर्शन को भेदाभेदवाद भी कहते हैं। जिस आचार्य ने जिस रूप में ब्रह्म को जाना उसका वर्णन किया। इतनी विचारधाराएं होने पर भी सभी यह मानते हैं कि भगवान ही इस सृष्टि का नियंता है।

अध्ययन का उद्देश्य :

वेदान्त दर्शन विषय से संबंधित इस आलेख का उद्देश्य निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित है :-

- इस अध्ययन के आधार पर वेदान्त दार्शनिकों के अनुसार जगत् के स्वरूप को तथ्यपरक विश्लेषण किया गया है।

अध्ययन पद्धति :

यह शोध आलेख मुख्य रूप से वर्णन एवं विश्लेषणात्मक एवं ऐतिहासिक आलोचनात्मक अध्ययन पद्धति पर आधारित है। वर्तमान अध्ययन वेदान्त दार्शनिकों के अनुसार जगत् का स्वरूप के विविध पक्षों के अन्वेषण से संबंधित है अतः यह शोध आलेख मुख्य रूप से द्वैतियक स्रोत पर आधारित है। इस अध्ययन के लिए मूल अध्ययन स्रोत पत्र-पत्रिकाओं एवं दस्तावेज तथा विभिन्न आचार्यों द्वारा सम्पादित पुस्तकों द्वारा लिया है।

वेदान्त का साहित्य :

‘वेदान्त’ शब्द मूलतः उपनिषदों के लिए प्रयुक्त होता था। अलग-अलग संहिताओं तथा उनकी शाखाओं से सम्बद्ध अनेक उपनिषद् हमें प्राप्त हैं। जिनमें प्रमुख तथा प्राचीन हैं – ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, श्रुताश्वर तथा बृहदारण्यक। इन उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों में काफी कुछ समानता है किन्तु अनेक स्थानों पर विरोध भी प्रतीत होता है। कालान्तर में यह आवश्यकता अनुभव की गई कि विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों में समन्वय स्थापित कर सर्वसम्मत उपदेशों का संकलन किया जाये। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की जिसे वेदान्त सूत्र, शारीरकसूत्र, शारीरकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है। इसमें उपनिषदों के सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षेप में, सूत्र रूप में संकलित किया गया है।

अत्यधिक संक्षेप होने के कारण सूत्रों में अपने आप में अस्पष्टता है और उन्हें बिना भाष्य या टीका के समझना सम्भव नहीं है। इसीलिए अनेक भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों द्वारा इनके अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया किन्तु इस स्पष्टीकरण में उनका अपना-अपना दृष्टिकोण था और इसीलिये उनमें पर्याप्त मतभेद है। प्रत्येक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उसका भाष्य ही ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण करता है। फलतः सभी भाष्यकार एक-एक वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गये। इनमें प्रमुख हैं शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद तथा वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद। बलदेव (अचिंत्यभेदाभेदवाद) का गोविन्दभाष्य, इन भाष्यों के अनन्तर इन भाष्यों पर टीकाएँ तथा टीकाओं पर टीकाओं का क्रम चला। अपने-अपने सम्प्रदाय के मत को पुष्ट करने के लिए अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना हुई, जिनसे वेदान्त का साहित्य अत्यन्त विशाल हो गया। ऐतिहासिक रूप से किसी गुरु के लिये आचार्य बनने - समझे जाने के लिये वेदान्त की पुस्तकों पर टीकाएँ या भाष्य लिखने पड़ते हैं। इन पुस्तकों में तीन महत्वपूर्ण पुस्तक शामिल हैं उपनिषद, भगवद् गीता और ब्रह्मसूत्र, जिन्हें प्रस्थानत्रयी कहते हैं। तदनुसार आदि शंकराचार्य, रामानुज और मध्वाचार्य तीनों ने इन तीन महत्वपूर्ण पुस्तकों पर विशिष्ट रचनाएँ दी हैं। तीनों ग्रंथों में प्रगट विचारों का कई तरह से व्याख्यान किया जा सकता है। इसी कारण से ब्रह्म, जीव तथा जगत् के संबंध में अनेक मत उपस्थित किए गए और इस तरह वेदान्त के अनेक रूपों का निर्माण हुआ था।

वेदान्त की तीन शाखाएँ जो सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं, वे हैं: अद्वैत वेदान्त, विशिष्ट अद्वैत और द्वैत। आदि शंकराचार्य, रामानुज और मध्वाचार्य को क्रमशः इन तीनों शाखाओं का प्रवर्तक माना जाता है। इनके अलावा भी ज्ञानयोग की अन्य शाखाएँ हैं। ये शाखाएँ अपने प्रवर्तकों के नाम से जानी जाती हैं जिनमें भास्कर, वल्लभ, चौतन्य, निम्बार्क, वाचस्पति मिश्र, सुरेश्वर और विज्ञान भिक्षु शामिल हैं।¹ आधुनिक काल में जो प्रमुख वेदान्ती हुये हैं उनमें रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द घोष, स्वामी शिवानन्द स्वामी करपात्री और रमण महर्षि उल्लेखनीय हैं। ये आधुनिक विचारक अद्वैत वेदान्त शाखा का प्रतिनिधित्व करते हैं। दूसरे वेदान्तों के प्रवर्तकों ने भी अपने विचारों को भारत में भलिभाँति प्रचारित किया है, जैसे आचार्य प्रशांत वेदांत दर्शन को भारत में हर व्यक्ति से अवगत कराने का प्रयास कर रहे हैं। परन्तु भारत के बाहर उन्हें बहुत कम जाना जाता है।

चारों वेदों में चार महावाक्य हैं - ऋग्वेद में “ प्रज्ञानं ब्रह्म ”, यजुर्वेद में “ अहं ब्रह्मास्मि ” सामवेद में “ तत्त्वमसि ” तथा अथर्ववेद “ में अयमात्मा ब्रह्म ” यह महावाक्य सुशोभित हैं । ये महावाक्य वेदांत दर्शन के आधार स्तम्भ हैं²

अद्वैत वेदान्त:

गौड़पाद (300 ई.) तथा उनके अनुवर्ती आदि शंकराचार्य (700 ई.) ब्रह्म को प्रधान मानकर जीव और जगत् को उससे अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार तत्त्व को उत्पत्ति और विनाश से रहित होना चाहिए। नाशवान जगत् तत्त्वशून्य है,

जीव भी जैसा दिखाई देता है वैसा तत्त्वतः नहीं है। जाग्रत और स्वप्नावस्थाओं में जीव जगत में रहता है परंतु सुषुप्ति में जीव प्रपंच ज्ञानशून्य चेतनावस्था में रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जीव का शुद्ध रूप सुषुप्ति जैसा होना चाहिए। सुषुप्ति अवस्था अनित्य है अतः इससे परे तुरीयावस्था को जीव का शुद्ध रूप माना जाता है। इस अवस्था में नश्वर जगत से कोई संबंध नहीं होता और जीव को पुनः नश्वर जगत में प्रवेश भी नहीं करना पड़ता। यह तुरीयावस्था अभ्यास से प्राप्त होती है। ब्रह्म-जीव-जगत में अभेद का ज्ञान उत्पन्न होने पर जगत जीव में तथा जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है। तीनों में वास्तविक अभेद होने पर भी अज्ञान के कारण जीव जगत को अपने से पृथक् समझता है। परंतु स्वप्नसंसार की तरह जाग्रत संसार भी जीव की कल्पना है। भेद इतना ही है कि स्वप्न व्यक्तिगत कल्पना का परिणाम है जबकि जाग्रत अनुभव-समष्टि-गत महाकल्पना का। स्वप्नजगत का ज्ञान होने पर दोनों में मिथ्यात्व सिद्ध है।¹³

परन्तु बौद्धों की तरह वेदान्त में जीव को जगत का अंग होने के कारण मिथ्या नहीं माना जाता। मिथ्यात्व का अनुभव करनेवाला जीव परम सत्य है, उसे मिथ्या मानने पर सभी ज्ञान को मिथ्या मानना होगा। परंतु जिस रूप में जीव संसार में व्यवहार करता है उसका वह रूप अवश्य मिथ्या है। जीव की तुरीय अवस्था भेदज्ञान शून्य शुद्ध अवस्था है। ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का संबंध मिथ्या संबंध है। इनसे परे होकर जीव अपनी शुद्ध चेतनावस्था को प्राप्त होता है। इस अवस्था में भेद का लेश भी नहीं है क्योंकि भेद द्वैत में होता है। इसी अद्वैत अवस्था को ब्रह्म कहते हैं। तत्त्व असीम होता है, यदि दूसरा तत्त्व भी हो तो पहले तत्त्व की सीमा हो जाएगी और सीमित हो जाने से वह तत्त्व बुद्धिगम्य होगा जिसमें ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का भेद प्रतिभासित होने लगेगा। अनुभव साक्षी है कि सभी ज्ञेय वस्तुएँ नश्वर हैं। अतः यदि हम तत्त्व को अनश्वर मानते हैं तो हमें उसे अद्वय, अज्ञेय, शुद्ध चैतन्य मानना ही होगा। ऐसे तत्त्व को मानकर जगत की अनुभूयमान स्थिति का हमें विवर्तवाद के सहार व्याख्यान करना होगा। रस्सी में प्रतिभासित होनेवाले सर्प की तरह यह जगत न तो सत है, न असत है। सत होता तो इसका कभी नाश न होता, असत होता तो सुख, दुःख का अनुभव न होता। अतः सत असत से विलक्षण अनिवर्चनीय अवस्था ही वास्तविक अवस्था हो सकती है। उपनिषदों में नेति कहकर इसी अज्ञातावस्था का प्रतिपादन किया गया है।

अज्ञान भाव रूप है क्योंकि इससे वस्तु के अस्तित्व की उपलब्धि होती है, यह अभाव रूप है, क्योंकि इसका वास्तविक रूप कुछ भी नहीं है। इसी अज्ञान को जगत का कारण माना जाता है। अज्ञान का ब्रह्म के साथ क्या संबंध है, इसका सही उत्तर कठिन है परंतु ब्रह्म अपने शुद्ध निर्गुण रूप में अज्ञान विरहित है, किसी तरह वह भावाभाव विलक्षण अज्ञान से आवृत होकर सगुण ईश्वर कहलाने लगता है और इस तरह सृष्टिक्रम चालू हो जाता है। ईश्वर को अपने शुद्ध रूप का ज्ञान होता है परंतु जीव को अपने ब्रह्मरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिए साधना के द्वारा ब्रह्मीभूत होना पड़ता है। गुरु के मुख से 'तत्त्वमसि' का उपदेश सुनकर जीव 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है। उस अवस्था में संपूर्ण जगत को आत्ममय तथा अपने में सम्पूर्ण जगत को देखता है क्योंकि उस समय उसके (ब्रह्म) के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं होता। इसी अवस्था को तुरीयावस्था या मोक्ष कहते हैं।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तः

रामानुजाचार्य ने (11वीं शताब्दी) शंकर मत के विपरीत यह कहा कि ईश्वर (ब्रह्म) स्वतंत्र तत्त्व है परंतु जीव भी सत्य है, मिथ्या नहीं। ये जीव ईश्वर के साथ संबद्ध हैं। उनका यह संबंध भी अज्ञान के कारण नहीं है, वह वास्तविक है। मोक्ष होने पर भी जीव की स्वतंत्र सत्ता रहती है। भौतिक जगत और जीव अलग अलग रूप से सत्य हैं परंतु ईश्वर की सत्यता इनकी सत्यता से विलक्षण है। ब्रह्म पूर्ण है, जगत जड़ है, जीव अज्ञान और दुःख से घिरा है। ये तीनों मिलकर एकाकार हो जाते हैं क्योंकि जगत और जीव ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म इनकी आत्मा तथा नियंता है। ब्रह्म से पृथक् इनका अस्तित्व नहीं है, ये ब्रह्म की सेवा करने के लिए ही हैं। इस दर्शन में अद्वैत की जगह बहुत्व की कल्पना है परंतु ब्रह्म अनेक में एकता स्थापित करनेवाला एक तत्त्व है। बहुत्व से विशिष्ट अद्वय ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण इसे विशिष्टाद्वैत कहा जाता है।

विशिष्टाद्वैत मत में भेदरहित ज्ञान असंभव माना गया है। इसीलिए शंकर का शुद्ध अद्वय ब्रह्म इस मत में ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म सविशेष है और उसकी विशेषता इसमें है कि उसमें सभी सत गुण विद्यमान हैं। अतः ब्रह्म वास्तव में शरीरी ईश्वर है। सभी वैयक्तिक आत्माएँ सत्य हैं और इन्हीं से ब्रह्म का शरीर निर्मित है। ये ब्रह्म में, मोक्ष हाने पर, लीन नहीं होतीं इनका अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। इस तरह ब्रह्म अनेकता में एकता स्थापित करनेवाला सूत्र है। यही ब्रह्म प्रलय काल में सूक्ष्मभूत और आत्माओं के साथ कारण रूप में स्थित रहता है परंतु सृष्टिकाल में सूक्ष्म स्थूल रूप धारण कर लेता है। यही कार्य ब्रह्म कहा जाता है। अनंत ज्ञान और आनंद से युक्त ब्रह्म को नारायण कहते हैं जो लक्ष्मी (शक्ति) के साथ बैकुण्ठ में निवास करते हैं। भक्ति के द्वारा इस नारायण के समीप पहुँचा जा सकता है। सर्वोत्तम भक्ति नारायण के प्रसाद से प्राप्त होती है और यह भगवद्ज्ञानमय है। भक्ति मार्ग में जाति-वर्ण-गत भेद का स्थान नहीं है। सबके लिए भगवत्प्राप्ति का यह राजमार्ग है।

द्वैत वेदान्तः

मध्व (1197 ई.) ने द्वैत वेदान्त का प्रचार किया जिसमें पाँच भेदों को आधार माना जाता है— जीव ईश्वर, जीव जीव, जीव जगत, ईश्वर जगत, जगत जगत। इनमें भेद स्वतः सिद्ध है। भेद के बिना वस्तु की स्थिति असंभव है। जगत और जीव ईश्वर से पृथक् हैं किंतु ईश्वर द्वारा नियंत्रित हैं। सगुण ईश्वर जगत का स्रष्टा, पालक और संहारक है। भक्ति से प्रसन्न होनेवाले ईश्वर के इशारे पर ही सृष्टि का खेल चलता है। यद्यपि जीव स्वभावतः ज्ञानमय और आनन्दमय है परन्तु शरीर, मन आदि के संसर्ग से इसे दुःख भोगना पड़ता है। यह संसर्ग कर्मों के परिणामस्वरूप होता है। जीव ईश्वरनियंत्रित होने पर भी कर्ता और फलभोक्ता है। ईश्वर में नित्य प्रेम ही भक्ति है जिससे जीव मुक्त होकर, ईश्वर के

समीप स्थित होकर, आनन्दभोग करता है। भौतिक जगत ईश्वर के अधीन है और ईश्वर की इच्छा से ही सृष्टि और प्रलय में यह क्रमशः स्थूल और सूक्ष्म अवस्था में स्थित होता है। रामानुज की तरह मध्व जीव और जगत को ब्रह्म का शरीर नहीं मानते। ये स्वतःस्थित तत्व हैं। उनमें परस्पर भेद वास्तविक है। ईश्वर केवल इनका नियंत्रण करता है। इस दर्शन में ब्रह्म जगत का निमित्त कारण है, प्रकृति (भौतिक तत्व) उपादान कारण है।

द्वैताद्वैत वेदान्तः

निम्बार्काचार्य ने स्वाभाविक द्वैताद्वैत दार्शनिक सिद्धांत का प्रचार किया जिसमें जगत (सृष्टि), जीव (आत्मा), और ईश्वर (परमात्मा) के बीच द्वैत-अद्वैत का स्वाभाविक संबंध होता है। निम्बार्काचार्य ने ब्रह्म ज्ञान का कारण एकमात्र शास्त्र को माना है। सम्पूर्ण धर्मों का मूल वेद है। वेद विपरीत स्मृतियाँ अमान्य हैं। जहाँ श्रुति में परस्पर द्वैध (भिन्न रूपत्व) भी आता हो वहाँ श्रुति रूप होने से दोनों ही धर्म हैं। किसी एक को उपादेय तथा अन्य को हेय नहीं कहा जा सकता। तुल्य बल होने से सभी श्रुतियाँ प्रधान हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भिन्न रूप श्रुतियों का भी समन्वय करके निम्बार्क दर्शन ने स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध को स्वीकृत किया है। इसमें समन्वयात्मक दृष्टि होने से भिन्न रूप श्रुति का भी परस्पर कोई विरोध नहीं होता। अतएव निम्बार्क दर्शन को 'अविरोध मत' के नाम से भी अभिहित करते हैं।

श्रुतियों में कुछ भेद का बोध कराती हैं तो कुछ अभेद का निर्देश देती हैं। यथा—

'पराऽय शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविक ज्ञान बल-क्रिया च' (श्वेताश्वतर उपनिषद ६-८)

'सर्वाल्लोकानीशते ईशानीभिः' (श्वेताश्वतर उपनिषद ३-९)

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति' (तैत्तिरीय उपनिषद ३-१-९) ।

'नित्यो नित्यानां चेतश्नचेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (कठ उपनिषद ५-१३)

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।' (भगवद गीता १०-८) इत्यादि

श्रुतियाँ ब्रह्म और जगत के भेद का प्रतिपादन करती हैं।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छांदोग्य उपनिषद ६-२-१)

'आत्मा वा इदमेकमासीत्' (तैत्तिरीय उपनिषद २-१)

'तत्त्वमसि' (छांदोग्य उपनिषद १४-३)

'अयमात्मा ब्रह्म' (बृहदारण्यक उपनिषद २-५-१६)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छांदोग्य उपनिषद ३-१४-१) : 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणि गणा इव' (भगवद गीता ७-७) इत्यादि अभेद का बोध कराती हैं।

इस प्रकार भेद और अभेद दोनों विरुद्ध पदार्थों का निर्देश करने वाली श्रुतियों में से किसी एक प्रकार की श्रुति को उपादेय अथवा प्रधान कहें तो दूसरी को हेय या गौण कहना पड़ेगा। क्योंकि वेद सर्वांशतया प्रमाण है। श्रुति स्मृतियों का निर्णय है। अतः तुल्य होने से भेद और अभेद दोनों को ही प्रधान मानना होगा, व्यावहारिक दृष्टि से यह सम्भव नहीं। भेद अभेद नहीं हो सकता और अभेद को भेद नहीं कह सकते। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा मार्ग निकालना होगा कि दोनों में विरोध न हो तथा समन्वय हो जावे। श्रीनिम्बार्काचार्यपाद ने उक्त समस्या का समाधान करके ऐसे ही अविरोधी समन्वयात्मक मार्ग का उपदेश किया है। आपश्री का कहना है। 'ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। उपादान अपने कार्य से अभिन्न होता है। स्वयं मिट्टी ही घड़ा बन जाती है। उसके बिना घड़े की कोई सत्ता नहीं। कार्य अपने कारण में अति सूक्ष्म रूप से रहते हैं। उस समय नाम रूप का विभाग न होने के कारण कार्य का पृथक् रूप से ग्रहण नहीं होता पर अपने कारण में उसकी सत्ता अवश्य रहती है। इस प्रकार कार्य व कारण की ऐक्यावस्था को ही अभेद कहते हैं।'।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुतियों का यह ही अभिप्राय है। इसी से सत् ख्याति की उपपत्ति होती है। सद्रूप होने से यह अभेद स्वाभाविक है। दृश्यमान जगत् ब्रह्म का ही परिणाम है। वह दूध से दही जैसा नहीं है। दूध, दही बनकर अपने दुग्धत्व (दूधपने) को जिस प्रकार समाप्त कर देता है, वैसे ब्रह्म जगत् के रूप में परिणत होकर अपने स्वरूप को समाप्त नहीं करता, अपितु मकड़ी के जाले के समान अपनी शक्ति का विक्षेप करके जगत् की सृष्टि करता है। यह ही शक्ति-विक्षेप लक्षण परिणाम है।

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः।

स्वभावतो देव एकः । समावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्॥ (श्वे० ६-१०)

यदिदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् (तै. २-६)

इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। ब्रह्म ही प्राणियों को अपने-अपने किये कर्मों का फल भुगताता है, अतः जगत् का निमित्त कारण होने से ब्रह्म और जगत् का भेद भी सिद्ध होता है, जो कि अभेद के समान स्वाभाविक ही है।

शुद्धाद्वैत वेदान्तः

वल्लभ (1479 ई.) के इस मत में ब्रह्म स्वतंत्र तत्व है। सच्चिदानंद श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं और जीव तथा जगत उनके अंश हैं। वही अणोरणीयान तथा महतो महीयान है। वह एक भी है, नाना भी है। वही अपनी इच्छा से अपने आप को जीव और जगत के नाना रूपों में प्रकट करता है। माया उसकी शक्ति है जिसकी सहायता से वह एक से अनेक होता है। परंतु अनेक मिथ्या नहीं है। श्रीकृष्ण से जीव-जगत की स्वभावतः उत्पत्ति होती है। इस उत्पत्ति से श्रीकृष्ण में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। जीव-जगत तथा ईश्वर का संबंध चिनगारी आग का संबंध है। ईश्वर के प्रति स्नेह भक्ति है। सांसारिक वस्तुओं से वैराग्य लेकर ईश्वर में राग लगाना जीव का कर्तव्य है। ईश्वर के अनुग्रह से ही यह भक्ति प्राप्य

है, भक्त होना जीव के अपने वश में नहीं है। ईश्वर जब प्रसन्न हो जाते हैं तो जीव को (अंश) अपने भीतर ले लेते हैं या अपने पास नित्यसुख का उपभोग करने के लिए रख लेते हैं। इस भक्तिमार्ग को पुष्टिमार्ग भी कहते हैं।

अचिंत्य भेदाभेद वेदान्तः

महाप्रभु चौतन्य (1485–1533 ई.) के इस संप्रदाय में अनंत गुणनिधान, सच्चिदानंद श्रीकृष्ण परब्रह्म माने गए हैं। ब्रह्म भेदातीत हैं। परंतु अपनी शक्ति से वह जीव और जगत् के रूप में आविर्भूत होता है। ये ब्रह्म से भिन्न और अभिन्न हैं। अपने आपमें वह निमित्त कारण है परंतु शक्ति से संपर्क होने के कारण वह उपादान कारण भी है। उसकी तटस्थशक्ति से जीवों का तथा मायाशक्ति से जगत् का निर्माण होता है। जीव अनंत और अणु रूप हैं। यह सूर्य की किरणों की तरह ईश्वर पर निर्भर हैं। संसार उसी का प्रकाश है अतः मिथ्या नहीं है। मोक्ष में जीव का अज्ञान नष्ट होता है पर संसार बना रहता है। सारी अभिलाषाओं को छोड़कर कृष्ण का अनुसेवन ही भक्ति है। वेदशास्त्रानुमोदित मार्ग से ईश्वरभक्ति के अनंतर जब जीव ईश्वर के रंग में रँग जाता है तब वास्तविक भक्ति होती है जिसे रुचि या रागानुगा भक्ति कहते हैं। राधा की भक्ति सर्वोत्कृष्ट है। वृंदावन धाम में सर्वदा कृष्ण का आनंदपूर्ण प्रेम प्राप्त करना ही मोक्ष है।

अक्षरपुरुषोत्तम दर्शनः

स्वामिनारायण (1781 दृ 1830 ई.) ने प्रस्थानत्रयी का आधार लेकर इस अक्षरपुरुषोत्तम तत्त्वदर्शन का उद्गाटन किया है। इसमें पांच अनादि तत्त्वों का स्वीकार किया गया है – जीव, ईश्वर, माया, अक्षरब्रह्म और परब्रह्म। इनमें से अक्षरब्रह्म और परब्रह्म ये दोनों तत्त्व नित्य माया से पर चौतन्य तत्त्व हैं। जीव तथा ईश्वर माया से बद्ध हैं। जीवों तथा ईश्वरों द्वारा अक्षरब्रह्मस्वरूप गुरु के सान्निध्य में साधना करने पर मुक्ति होती है। इस दर्शन में भगवान स्वामिनारायणजी को परब्रह्म माना गया है और उनका धाम अक्षरधाम माना गया है। २१वीं शताब्दी में महामहोपाध्याय साधु भद्रेशदासजी ने भगवान स्वामिनारायण प्रबोधित अक्षरपुरुषोत्तम दर्शन का प्रतिपादन करते हुए प्रस्थानत्रयी पर प्रामाणिक भाष्यों की रचना की है। इन भाष्यों की प्रामाणिकता एवं इस दर्शन की नूतनता, मौलिकता को काशी और तिरुपति समेत भारतवर्ष के अनेक मूर्धन्य विद्वानों ने समर्थन दिया है। अतः समस्त भारत में इस दर्शन को सप्तम वेदांत दर्शन के रूप में सभीने स्वीकृत किया है।

निष्कर्षः

वैष्णव वेदान्त दर्शन के दार्शनिक स्वरूप की विवेचना में यह स्पष्ट होता है कि वैष्णव वेदान्त का स्वरूप शंकर के अद्वैत वेदान्त की अवधारण का निषेध है। आचार्य शंकर तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से पूर्णतया अद्वैतवादी हैं, अद्वैतवाद के प्रतिपादन हेतु उन्होंने जगत् के मिथ्यात्व को तार्किक दृष्टि से प्रमाणित किया है तथा जगत् के मिथ्यात्व के लिए उन्होंने मायावाद को स्वीकार किया है, किन्तु वैष्णव वेदान्त दर्शन सै(न्तिक रूप से आचार्य शंकर के मायावाद को स्वीकार नहीं करता है। साथ ही आचार्य शंकर के कार्यकारण वाद से भिन्न सि(न्त वैष्णव वेदान्त के दार्शनिकों ने प्रतिपादित किया है। वैष्णव वेदान्त दर्शन के दार्शनिक स्वरूप की व्याख्या जब हम प्रारम्भ करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वैष्णव वेदान्त से सम्बन्धित सभी दार्शनिक आचार्य शंकर द्वारा स्वीकृति मायावाद का निषेध करते हैं। उन चिन्तकों की दृष्टि में जगत् न तो माया का परिणाम है और न मिथ्या है। इसलिए प्रथम दृष्टया आचार्य रामानुज जो कि वैष्णव वेदान्त दर्शन के प्रथम उत्कृष्ट चिन्तक हैं, ने आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित एवं स्वीकृत मायावाद का दार्शनिक एवं तार्किक निषेध किया है। इसलिए मायावाद का खण्डन वैष्णव वेदान्त दर्शन का महत्वपूर्ण दार्शनिक स्वरूप है।

संदर्भ ग्रंथः

1. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2015) भारतीय दर्शन – भाग 1, राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली ।
2. दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ (1922) भारतीय दर्शन का इतिहास। खंड 1, बौद्ध, जैन और भारतीय विचार की छह प्रणालियों का दर्शन (7वां पुनर्मुद्रण संस्करण)। मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशक। पृ. 88–92।
3. वही
4. चारी, एस. एम. श्रीनिवास (1988) विशिष्टाद्वैत वेदांत के मूल सिद्धांत (संशोधित संस्करण)। मोतीलाल बनारसीदास। पृ. 112–114।
5. शर्मा, बी. एन. कृष्णमूर्ति (2000) वेदांत के द्वैत स्कूल और उसके साहित्य का इतिहास (पुनर्मुद्रण, तीसरा संस्करण)। मोतीलाल बनारसीदास। पृ. 134–136।
6. शर्मा, दीपक (2005)। ज्ञानमीमांसा और दार्शनिक जांच की सीमाएँ: माधव वेदांत में सिद्धांत। रूटलेज.पीपी. 142–146।
7. गुप्ता, रवि एम. (2007) जीव गोस्वामी की चतुरसूत्री टीका का चौतन्य वैष्णव वेदांत। रूटलेज.पीपी.52–54।
8. दास, ए.सी. (1952) “अद्वैत तत्त्वमीमांसा में ब्रह्म और माया”। दर्शन पूर्व और पश्चिम। 2 (2): 144–154।